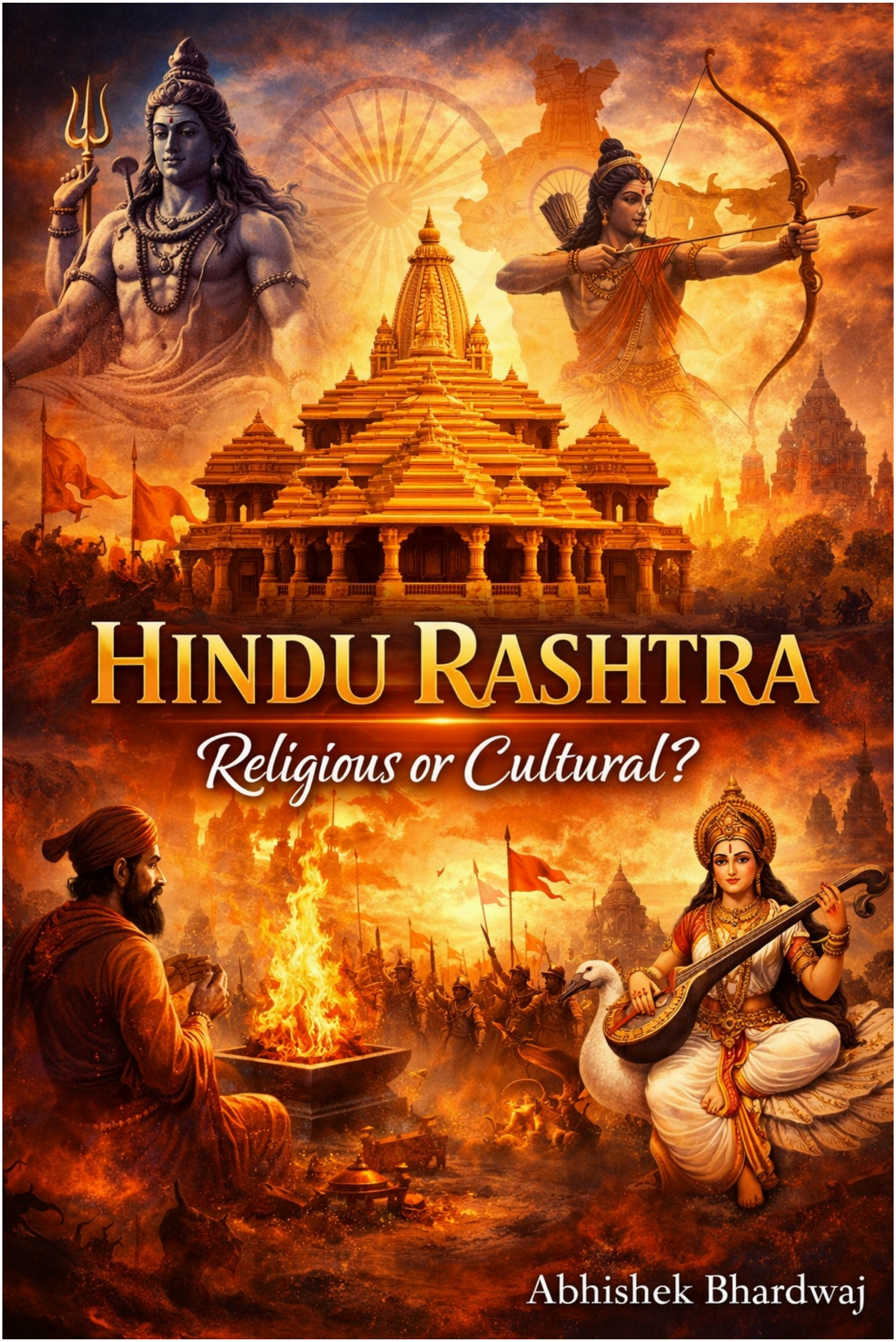

HINDU RASHTRA
Religious or Cultural?
Abhishek Bhardwaj

हिंदू राष्ट्र:धार्मिक या संस्कृति

अभिषेक भारद्वाज

05, अप्रैल 2026



भूमिका

आज के समय में, जब समाज तेजी से बदल रहा है और पहचान की राजनीति अपने चरम पर है,

“हिंदू राष्ट्र” का विचार केवल एक राजनीतिक मुद्दा नहीं रह गया है—

यह हमारी पहचान, हमारी संस्कृति और हमारे भविष्य से जुड़ा एक गंभीर प्रश्न बन चुका है।

यह ई–पत्रिका उसी प्रश्न की खोज है।

हम अक्सर बिना सोचे-समझे शब्दों को स्वीकार कर लेते हैं—

लेकिन क्या हमने कभी यह समझने की कोशिश की है कि

“हिंदू” शब्द की उत्पत्ति क्या है?

क्या यह हमेशा से एक धार्मिक पहचान थी, या यह समय के साथ बदला गया एक अर्थ है?

और सबसे महत्वपूर्ण—

यदि “हिंदू राष्ट्र” की बात की जाती है, तो उसका आधार क्या होना चाहिए?

धर्म... या संस्कृति?

यह ई–पत्रिका आपको किसी एक निष्कर्ष को मानने के लिए मजबूर नहीं करती,

बल्कि आपको सोचने के लिए प्रेरित करती है।

लेखक

अभिषेक भारद्वाज

दार्शनिक

धन्यवाद

खुशी मिश्रा

MA History

राष्ट्रीय क्या है–

राष्ट्र" क्या होता है और "धार्मिक राष्ट्र" उससे कैसे अलग है—यह समझना आज की सबसे महत्वपूर्ण बौद्धिक जरूरतों में से एक है, क्योंकि इसी के आधार पर हम प्राचीन और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। सामान्य रूप से "राष्ट्र" (Nation) वह इकाई है जहाँ एक समूह के लोग साझा इतिहास, संस्कृति, भाषा, भूभाग और राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर अपने आप को एक सामूहिक पहचान में देखते हैं; आधुनिक युग में यह अवधारणा संविधान, नागरिक अधिकारों और राजनीतिक संस्थाओं से जुड़ गई है, जैसा कि भारत के संविधान में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जहाँ राष्ट्र का अर्थ नागरिकों की समानता और अधिकारों से है, न कि किसी एक धर्म से। इसके विपरीत "धार्मिक राष्ट्र" (Religious State) वह होता है जहाँ राज्य की पहचान, कानून और शासन किसी एक धर्म के सिद्धांतों पर आधारित होते हैं—जैसे सऊदी अरब, जहाँ इस्लामी कानून (शरिया) शासन का आधार है, या ईरान, जो एक इस्लामिक गणराज्य है; इन देशों में धर्म और राज्य अलग नहीं होते, बल्कि धर्म ही राज्य की दिशा तय करता है।

यदि हम प्राचीन काल की बात करें, तो उस समय "राष्ट्र" का अर्थ आज जैसा राजनीतिक और संवैधानिक ढांचा नहीं था, बल्कि वह अधिकतर "राज्य" साम्राज्य/(kingdom/empire) के रूप में था, जहाँ सत्ता राजा के हाथ में होती थी और उसकी नीतियाँ ही राज्य की पहचान बनती थीं। उदाहरण के लिए सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को अपनाने के बाद "धम्म" के सिद्धांतों को बढ़ावा दिया, लेकिन उन्होंने किसी अन्य धर्म को समाप्त नहीं किया; इसी प्रकार अकबर ने "सुलह-ए-कुल" की नीति अपनाकर सभी धर्मों को स्थान दिया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन और मध्यकालीन "राष्ट्र" धार्मिक रूप से पूर्णतः एकरूप नहीं थे, बल्कि शासक की सोच के अनुसार लचीले (flexible) थे। वहीं कुछ शासकों, जैसे औरंगज़ेब, ने अपने धर्म को अधिक प्राथमिकता दी, जिससे धार्मिक असंतुलन और संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं।

आधुनिक युग में "राष्ट्र" की अवधारणा पूरी तरह बदल गई है। अब राष्ट्र केवल राजा या शासक से नहीं, बल्कि नागरिकों, संविधान और कानून से बनता है। लोकतंत्र, मानवाधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता—ये सभी आधुनिक राष्ट्र के आधार स्तंभ हैं। इसी कारण आज दुनिया में दो प्रकार के राष्ट्र स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं:

(1) धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र (Secular States), जहाँ सभी धर्मों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं,

(2) धार्मिक राष्ट्र (Religious States), जहाँ एक धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है।

धार्मिक राष्ट्रों की स्थिति को लेकर भी गहन बहस होती है। उदाहरण के लिए अफगानिस्तान (विशेषकर तालिबान के शासन में) में महिलाओं की शिक्षा और स्वतंत्रता पर गंभीर प्रतिबंध लगाए गए, जिससे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इसकी आलोचना हुई। इसी प्रकार सऊदी अरब में भी लंबे समय तक महिलाओं के अधिकार सीमित रहे (हालाँकि हाल के वर्षों में कुछ सुधार हुए हैं), और ईरान में धार्मिक कानूनों के कारण व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर नियंत्रण देखा जाता है। इन उदाहरणों के आधार पर आलोचक यह तर्क देते हैं कि जब राज्य पूरी तरह धर्म-आधारित हो जाता है, तो अक्सर व्यक्तिगत स्वतंत्रता, विशेषकर महिलाओं और अल्पसंख्यकों के अधिकार, सीमित हो सकते हैं, क्योंकि कानून धार्मिक व्याख्याओं पर निर्भर हो जाते हैं, जो समय के साथ कठोर या असमान हो सकते हैं।

हालाँकि, यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि सभी धार्मिक राष्ट्र एक जैसे नहीं होते और उनकी समस्याओं के पीछे केवल धर्म ही कारण नहीं होता; राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक पिछड़ापन, शिक्षा की कमी और वैश्विक परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। फिर भी, आधुनिक विश्व में यह व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है कि एक संतुलित राष्ट्र वही होता है जहाँ राज्य किसी एक धर्म का पक्ष न लेकर सभी नागरिकों को समान अवसर और स्वतंत्रता प्रदान करे। यही कारण है कि आज कई देश धर्मनिरपेक्ष मॉडल को अपनाते हैं, ताकि विविधता के बीच एकता बनाए रखी जा सके।

अंततः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल का “राष्ट्र” शासक-केन्द्रित और लचीला था, जबकि आधुनिक राष्ट्र नागरिक-केन्द्रित और संवैधानिक है; और “धार्मिक राष्ट्र” की अवधारणा, यद्यपि कुछ समाजों में प्रभावी रही है, परंतु आज के समय में यह अक्सर स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक संतुलन के प्रश्नों के साथ जुड़ जाती है, विशेषकर तब जब राज्य की नीतियाँ किसी एक धर्म के आधार पर निर्धारित की जाती हैं। इसलिए आधुनिक विश्व में सबसे सफल मॉडल वही माना जाता है, जहाँ राष्ट्र अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हुए भी सभी नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रता को सर्वोपरि रखता है।

हिंदू राष्ट्रीय की अवधारणा–

हिंदू राष्ट्र” की अवधारणा अचानक उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि इसका विकास भारत के लंबे ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक अनुभवों के भीतर धीरे-धीरे हुआ। यदि हम इसके मूल स्रोतों की खोज करें, तो इसकी जड़ें प्राचीन भारतीय सभ्यता की उस पहचान में मिलती हैं जहाँ “राष्ट्र” का विचार आधुनिक राजनीतिक सीमाओं से अधिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता पर आधारित था। वैदिक और उत्तरवैदिक काल में “जन”, “जनपद” और “राष्ट्र” जैसे शब्द मिलते हैं, जो किसी एक धर्म से नहीं बल्कि साझा परंपराओं, रीति-रिवाजों और जीवन-दृष्टि से जुड़े थे। बाद में जब भारत पर बाहरी आक्रमण हुए—विशेषकर मध्यकालीन इस्लामी शासन और फिर औपनिवेशिक काल में United Kingdom के शासन के दौरान—तब “सांस्कृतिक पहचान” को बचाने की भावना और प्रबल हुई। 19वीं–20वीं सदी में यह विचार एक संगठित रूप लेने लगा, जब भारतीय पुनर्जागरण और राष्ट्रवाद उभरा।

इसी दौर में “विनायक दामोदर सावरकर” ने “हिंदुत्व” की अवधारणा दी, जिसमें उन्होंने “हिंदू” को केवल धार्मिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक-राष्ट्रीय पहचान के रूप में परिभाषित किया।1937 में विनय दामोदर सावरकर द्वारा प्रस्तुत “हिंदुत्व” और “हिंदू राष्ट्र” की अवधारणा भारतीय राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्श में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुई। यह विचार केवल धार्मिक पहचान तक सीमित नहीं था, बल्कि एक व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिभाषा देने का प्रयास था।

सावरकर का पहला और सबसे महत्वपूर्ण प्रयास था “हिंदू” शब्द को एक स्पष्ट और ठोस परिभाषा देना। उनके अनुसार, “हिंदू” कोई मात्र धार्मिक पहचान नहीं है, बल्कि एक ऐसी पहचान है जो भूगोल, संस्कृति और आस्था—तीनों से मिलकर बनती है।वे कहते हैं कि किसी भी राष्ट्र की पहचान उसके लोगों की साझा चेतना से बनती है, और भारत में यह चेतना “हिंदुत्व” के रूप में प्रकट होती है।

पितृभूमि और पुण्यभूमि का सिद्धांत:

सावरकर के तर्क का केंद्र दो मूल अवधारणाएँ हैं:

पितृभूमि (Fatherland)

पुण्यभूमि (Holyland)

उनके अनुसार, एक सच्चा "हिंदू" वही है जो भारत को अपनी जन्मभूमि (पितृभूमि) के साथ-साथ अपनी धार्मिक/आध्यात्मिक भूमि (पुण्यभूमि) भी माने।

यहाँ सावरकर एक तार्किक ढांचा प्रस्तुत करते हैं:

यदि कोई व्यक्ति भारत को केवल अपना देश मानता है, तो वह नागरिक हो सकता हैलेकिन यदि वह इसे अपनी आध्यात्मिक जड़ों का केंद्र भी मानता है, तभी वह "हिंदू" कहलाता है।

सावरकर का सबसे बड़ा तर्क यह है कि "हिंदुत्व" को धर्म के रूप में नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक-राष्ट्रीय पहचान के रूप में समझा जाना चाहिए।

धर्म बदल सकता है,लेकिन संस्कृति, परंपरा और ऐतिहासिक चेतना व्यक्ति को स्थायी रूप से जोड़ती है,इस दृष्टिकोण से, "हिंदू राष्ट्र" कोई धार्मिक राज्य नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक राष्ट्र की अवधारणा बन जाता है।

सावरकर की विचारधारा का सबसे मजबूत पक्ष यह है कि वह भारत की विविधता को एक साझा पहचान में बाँधने का प्रयास करती है।एक राष्ट्र को मजबूत बनने के लिए साझा इतिहास और सांस्कृतिक आधार जरूरी है"हिंदुत्व" उस साझा आधार का नाम है।यह दृष्टिकोण एक प्रकार से राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने का प्रयास प्रतीत होता है।सावरकर का "हिंदू राष्ट्र" एक गहरी वैचारिक संरचना है, जो राष्ट्र को केवल राजनीतिक इकाई नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता के रूप में देखने का प्रयास करती है।

यह विचार एक ओर राष्ट्रीय एकता का सशक्त आधार प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों—जैसे समानता और बहुलता—के साथ इसके सामंजस्य पर गंभीर प्रश्न भी खड़े करता है।सावरकर की यह अवधारणा केवल एक ऐतिहासिक वक्तव्य नहीं है, बल्कि आज भी भारतीय समाज और राजनीति में बहस का केंद्र बनी हुई है। इसे न तो पूरी तरह स्वीकार किया जा सकता है और न ही बिना विश्लेषण के खारिज—बल्कि इसे समझना, परखना और तर्क के आधार पर मूल्यांकन करना ही सबसे उचित दृष्टिकोण है।

इसके बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना 1925 में "केशव बलिराम हेडगेवार" ने की, जिसका उद्देश्य हिंदू समाज को संगठित करना और राष्ट्रीय चेतना को मजबूत करना था। आगे चलकर "माधव सदाशिव गोलवलकर"ने इस विचारधारा को विस्तार दिया, जिसमें सांस्कृतिक एकता और राष्ट्र की पहचान पर जोर दिया गया। राजनीतिक स्तर पर यह विचार बाद में भारतीय जन संघ और फिर भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के माध्यम से मुख्यधारा की राजनीति में आया।

लेकिन यह केवल एक पक्ष है; भारत के कई बड़े नेताओं और दार्शनिकों ने इस विषय पर अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। उदाहरण के लिए "महात्मा गांधी" भारत को आध्यात्मिक रूप से हिंदू परंपराओं से जुड़ा मानते थे, लेकिन वे एक समावेशी, सर्वधर्म समभाव वाले राष्ट्र के पक्षधर थे। "जवारहलाल नेहरू" ने आधुनिक, वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की परिकल्पना की, जबकि "भीमराव अंबेडकर" ने भारतीय संविधान के माध्यम से समानता और धर्मनिरपेक्षता को सुनिश्चित किया। "सरदार वल्लभभाई पटेल" ने राष्ट्रीय एकता पर जोर दिया, लेकिन धार्मिक राज्य की अवधारणा को प्राथमिकता नहीं दी।

दूसरी ओर, कुछ विचारकों ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को समर्थन दिया। “अरबिंदो घोष” ने भारत को एक आध्यात्मिक राष्ट्र माना, जबकि “स्वामी विवेकानंद” ने हिंदू संस्कृति को विश्व के लिए मार्गदर्शक बताया, हालांकि उन्होंने भी समावेशिता पर बल दिया। रवीन्द्रनाथ टैगोर” ने राष्ट्रवाद के अतिरेक से सावधान किया और मानवतावाद को प्राथमिकता दी। “राम मनोहर लोहिया” और “जयप्रकाश नारायण” जैसे समाजवादी नेताओं ने भी सांस्कृतिक पहचान को स्वीकार किया, लेकिन धार्मिक राज्य के खिलाफ रहे।

आधुनिक राजनीति में “अटल बिहारी वाजपेयी” ने मॉडरेट राष्ट्रवाद की बात की, जबकि “लाल कृष्ण आडवाणी”¡ ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को राजनीतिक विमर्श में प्रमुखता दी। “नरेंद्र मोदी”¡ के नेतृत्व में भी सांस्कृतिक पहचान को महत्व मिला, लेकिन भारत आधिकारिक रूप से धर्मनिरपेक्ष ही बना रहा। इसके अतिरिक्त “सुभाष चंद्र बोस”,”भगत सिंह”, “इरोड वेंकट रामासामी पेरियार”, “श्यामा प्रसाद मुखर्जी”,“दीनदयाल उपाध्याय”,”चाणक्य”, “कबीर” और “गुरु नानक” जैसे अनेक व्यक्तित्वों ने भारत की पहचान को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखा—किसी ने धर्म से ऊपर उठकर, किसी ने संस्कृति के माध्यम से, तो किसी ने सामाजिक समानता के आधार पर।

इतिहास के आधार पर देखा जाए तो "हिंदू राष्ट्र" की सोच एक सतत विकसित होती हुई अवधारणा है, जो कभी भी एकरूप नहीं रही; यह अलग-अलग समय, परिस्थितियों और विचारकों के अनुसार बदलती रही है। कुछ के लिए यह सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है, तो कुछ के लिए यह एक संभावित खतरा, जो भारत की विविधता को सीमित कर सकता है। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि यह विचार न तो पूरी तरह नया है और न ही पूरी तरह स्थिर; यह भारत की जटिल पहचान, उसके संघर्षों और उसके बौद्धिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण, लेकिन विवादास्पद हिस्सा है, जो आज भी बहस और पुनर्व्याख्या के दौर से गुजर रहा है।

प्राचीन भारत में हिंदू राष्ट्रीय–

भारत के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास को यदि “हिंदू राष्ट्र” जैसी आधुनिक अवधारणा के संदर्भ में देखा जाए, तो यह समझना आवश्यक है कि उस समय “राष्ट्र” का अर्थ आज की तरह राजनीतिक और संवैधानिक इकाई नहीं था, बल्कि वह अधिकतर सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक सत्ता के मिश्रण के रूप में प्रकट होता था। प्राचीन भारत में चंद्रगुप्त मौर्य और उनके मार्गदर्शक चाणक्य ने एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें “राष्ट्र” की अवधारणा राज्य की एकता, प्रशासनिक दक्षता और राजधर्म पर आधारित थी, न कि किसी एक धर्म को थोपने पर। इसी प्रकार सम्राट अशोक ने प्रारंभ में विस्तारवादी नीति अपनाई, लेकिन कलिंग युद्ध के बाद उन्होंने बौद्ध धर्म को अपनाकर “धम्म” की नीति चलाई, जिसमें सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता और नैतिक शासन पर बल दिया गया—यह किसी एक धर्म-आधारित राष्ट्र की बजाय नैतिक राज्य की अवधारणा थी। गुप्त काल में, जिसे “स्वर्ण युग” कहा जाता है, समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय के समय हिंदू धर्म और संस्कृति को संरक्षण मिला, मंदिरों का निर्माण हुआ और संस्कृत साहित्य फला-फूला, जिससे यह कहा जा सकता है कि उस समय एक प्रकार का “सांस्कृतिक हिंदू प्रभुत्व” अवश्य था, परंतु यह आधुनिक अर्थों में “हिंदू राष्ट्र” नहीं था क्योंकि अन्य पंथों का अस्तित्व भी बना रहा।

मध्यकाल में स्थिति और जटिल हो जाती है, जब इस्लामी शासन स्थापित हुआ। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद बिन तुगलक जैसे शासकों ने मुख्यतः राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण पर ध्यान दिया, न कि व्यापक धार्मिक परिवर्तन पर, हालांकि उनके शासन में इस्लामी प्रभाव स्पष्ट था। वहीं औरंगज़ेब के काल में इस्लामी कानून (शरिया) को अधिक महत्व दिया गया और जज़िया कर जैसे निर्णयों के कारण यह धारणा बनी कि उन्होंने एक विशेष धर्म को प्राथमिकता दी, जिससे धार्मिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हुई। इसके विपरीत अकबर ने "सुलह-ए-कुल" (सर्वधर्म समभाव) की नीति अपनाई और Din-i Ilahi जैसी पहल के माध्यम से विभिन्न धर्मों को एक मंच पर लाने का प्रयास किया, जो एक समन्वयवादी राज्य की ओर संकेत करता है।

इसी बीच, कुछ हिंदू शासकों ने सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान को मजबूत करने का प्रयास किया। छत्रपति शिवाजी महाराज का उदाहरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने मराठा साम्राज्य की स्थापना करते हुए हिंदू परंपराओं और प्रतीकों को पुनर्जीवित किया; उनके शासन को कई इतिहासकार “हिंदवी स्वराज्य” की अवधारणा से जोड़ते हैं, जिसमें स्थानीय संस्कृति, धर्म और स्वशासन को महत्व दिया गया। हालांकि, शिवाजी के प्रशासन में भी विभिन्न धर्मों के लोगों को स्थान मिला, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनका शासन पूर्णतः धार्मिक राज्य नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक आत्म-सम्मान और राजनीतिक स्वतंत्रता का मिश्रण था।

इस प्रकार इतिहास के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भारत में न तो प्राचीन काल में और न ही मध्यकाल में आधुनिक अर्थों में “हिंदू राष्ट्र” जैसा कोई स्पष्ट और औपचारिक ढांचा मौजूद था, लेकिन विभिन्न कालखंडों में शासकों ने अपनी-अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान के अनुसार नीतियाँ अपनाईं। कहीं हिंदू संस्कृति को संरक्षण मिला, तो कहीं इस्लामी शासन की छाप दिखाई दी, और कहीं समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। इसलिए यह कहना अधिक उचित होगा कि भारत का इतिहास एकल धार्मिक राष्ट्र की बजाय विविध विचारों, नीतियों और शासकीय प्रयोगों का इतिहास है, जहाँ “हिंदू राष्ट्र” जैसी अवधारणा आधुनिक समय में विकसित हुई है, जबकि अतीत में उसका स्वरूप अधिकतर सांस्कृतिक प्रभाव और शासकीय प्राथमिकताओं के रूप में ही प्रकट हुआ था।

हिंदू शब्द का इतिहास–

"हिंदू राष्ट्र" की चर्चा करते समय एक मूलभूत और गहरा प्रश्न उठता है—क्या "हिंदू" शब्द स्वयं प्राचीन भारत में अस्तित्व में था, या यह बाद में विकसित हुआ?

ऐतिहासिक और भाषाई प्रमाणों के आधार पर देखा जाए तो "हिंदू" शब्द मूल रूप से धार्मिक पहचान के रूप में नहीं, बल्कि भौगोलिक और सांस्कृतिक संकेत के रूप में उत्पन्न हुआ। इसका सबसे प्रारंभिक स्रोत सिंधु नदी से जुड़ा माना जाता है, जिसे संस्कृत में "सिंधु" कहा गया। जब प्राचीन Persian Empire के लोग भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में आए, तो वे "स" ध्वनि को "ह" में बदलकर "सिंधु" को "हिंदू" उच्चारित करने लगे, और इस प्रकार "हिंदू" शब्द का प्रयोग उस भूभाग और वहाँ के निवासियों के लिए होने लगा जो सिंधु नदी के पार रहते थे। बाद में अवेस्टा जैसे प्राचीन फारसी ग्रंथों में "हिंदू" के समान शब्दों का उल्लेख मिलता है, जो इस भौगोलिक पहचान की पुष्टि करता है। इसके पश्चात डेरियसा के अभिलेखों में "Hindush" शब्द का प्रयोग हुआ, जो सिंधु क्षेत्र को दर्शाता था।

समय के साथ, जब अलेक्जेंडर के अभियान के बाद यूनानी संपर्क बढ़ा, तो “हिंदू” से “Indos” और फिर “India” जैसे शब्द विकसित हुए। मध्यकाल में, विशेषकर इस्लामी आक्रमणों और शासन के दौरान, “हिंदू” शब्द का उपयोग एक व्यापक सामाजिक-धार्मिक पहचान के रूप में होने लगा, जहाँ इसका अर्थ उन सभी लोगों से था जो इस्लाम को नहीं मानते थे और भारतीय परंपराओं का पालन करते थे। इस प्रकार “हिंदू” शब्द धीरे-धीरे एक सांस्कृतिक और फिर धार्मिक पहचान में परिवर्तित हुआ, जबकि प्रारंभ में यह केवल एक भौगोलिक पहचान था।

महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों—जैसे वेद, उपनिषद या महाभारत—में “हिंदू” शब्द का उल्लेख नहीं मिलता; वहाँ “सनातन धर्म”, “आर्य धर्म” या विभिन्न दार्शनिक परंपराओं के नाम मिलते हैं, लेकिन “हिंदू” एक समेकित धार्मिक पहचान के रूप में अनुपस्थित है। इसका अर्थ यह नहीं कि उस समय धर्म या आध्यात्मिकता नहीं थी, बल्कि यह दर्शाता है कि उस युग में पहचान अधिक विविध और विकेन्द्रित थी। बाद में, विशेषकर औपनिवेशिक काल में यूनाइटेड किंगडम के शासन के दौरान, “Hinduism” शब्द को एक संगठित धर्म के रूप में परिभाषित किया गया, ताकि प्रशासनिक और जनगणना के उद्देश्यों के लिए विभिन्न परंपराओं को एक श्रेणी में रखा जा सके।

इस ऐतिहासिक विकास के आ
यह कहा जा सकता है कि “हिंदू” शब्द की यात्रा
भौगोलिक संकेत से शुरू होकर सांस्कृतिक पहच
अंततः धार्मिक परिभाषा तक पहुँची है। इसलिए
आज “हिंदू राष्ट्र” की बात की जाती है, तो यह के
धार्मिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक लंबे ऐतिहासि
और भाषाई विकास का परिणाम है, जिसमें बाह
प्रभाव, आंतरिक परंपराएँ और राजनीतिक परिसि
सभी शामिल हैं। यही कारण है कि इस विषय पर
इतनी जटिल और बहुआयामी है—क्योंकि “हिंदू”
स्वयं एक स्थिर और एकरूप पहचान नहीं रहा, ब
समय के साथ बदलता और विकसित होता रहा है

हिंदू राष्ट्रीय मुमकिन है–

क्या भारत वास्तव में कभी “हिंदू राष्ट्र” बनेगा??

यह प्रश्न केवल एक राजनीतिक नारा नहीं बल्कि भारत की ऐतिहासिक, संवैधानिक और सामाजिक संरचना से जुड़ा अत्यंत गहरा विषय है। एक ओर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उससे जुड़े विचारक यह तर्क देते हैं कि “हिंदू राष्ट्र” का अर्थ किसी संकीर्ण धार्मिक राज्य से नहीं, बल्कि उस सांस्कृतिक राष्ट्र की पुनर्परिभाषा है जिसकी जड़ें हजारों वर्षों पुरानी भारतीय सभ्यता में निहित हैं; उनके अनुसार “हिंदू” एक धर्म नहीं बल्कि एक व्यापक सांस्कृतिक पहचान है, जिसमें विविध परंपराएँ, भाषाएँ और समुदाय समाहित हैं, और यदि इस सांस्कृतिक चेतना को राष्ट्रीय स्तर पर सुदृढ़ किया जाए तो भारत अधिक एकजुट, आत्मविश्वासी और वैश्विक स्तर पर प्रभावशाली बन सकता है। उनके दृष्टिकोण में यह राष्ट्र की आत्मा को पहचानने और उसे आधुनिक संदर्भ में पुनर्स्थापित करने का प्रयास है, न कि किसी समुदाय को दबाने का।

आलोचक इस विचार को संदेह की दृष्टि से देखते हैं और मानते हैं कि व्यवहार में “हिंदू राष्ट्र” की अवधारणा बहुसंख्यक प्रभुत्व (majoritarianism) में बदल सकती है, जिससे अल्पसंख्यक समुदायों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो सकती है और भारत की बहुलतावादी पहचान को नुकसान पहुँच सकता है; वे यह भी तर्क देते हैं कि भारत के संविधान ने भारत को एक धर्मनिरपेक्ष गणराज्य के रूप में स्थापित किया है, जहाँ राज्य का कोई धर्म नहीं है और सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं, इसलिए किसी एक सांस्कृतिक या धार्मिक पहचान को आधिकारिक दर्जा देना इस मूल भावना के विपरीत होगा।

इसके अतिरिक्त, संविधान में परिवर्तन करने की जटिल प्रक्रिया, न्यायपालिका द्वारा “basic structure doctrine” के माध्यम से मूल सिद्धांतों की रक्षा, और भारत की विविध सामाजिक संरचना—जहाँ अनेक धर्म, भाषाएँ और संस्कृतियाँ सह-अस्तित्व में हैं—ये सभी कारक “हिंदू राष्ट्र” को वास्तविकता में बदलने की संभावना को अत्यंत सीमित कर देते हैं। राजनीतिक दृष्टि से भी, भले ही कुछ दल सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की बात करते हों, परंतु वे भी प्रत्यक्ष रूप से भारत को एक धार्मिक राज्य घोषित करने की दिशा में स्पष्ट कदम नहीं उठाते, क्योंकि यह सामाजिक और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गंभीर परिणाम उत्पन्न कर सकता है। अंततः यह कहा जा सकता है कि “हिंदू राष्ट्र” एक वैचारिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक बहस के रूप में तो भारतीय समाज में मौजूद रहेगा।

इसे संवैधानिक और आधिकारिक रूप में लागू करना वर्तमान परिस्थितियों में न केवल अत्यंत कठिन बल्कि काफी हद तक असंभावित प्रतीत होता है; भारत के लिए अधिक यथार्थवादी मार्ग वही दिखाई देता है जहाँ उसकी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का सम्मान हो, लेकिन साथ ही उसकी धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक संरचना भी सुरक्षित बनी रहे।

हिंदू राष्ट्रीय:धर्म और संस्कृति

आज "हिंदू राष्ट्र" की बहस अपने सबसे निर्णायक मोड़ पर खड़ी है, जहाँ मूल प्रश्न यह नहीं रह जाता कि यह होना चाहिए या नहीं, बल्कि यह कि यदि "हिंदू राष्ट्र" की कल्पना की जाए, तो उसका आधार क्या होगा—धर्म या संस्कृति? इतिहास हमें यह स्पष्ट संकेत देता है कि "हिंदू" शब्द की उत्पत्ति किसी संकीर्ण धार्मिक पहचान के रूप में नहीं हुई थी, बल्कि यह एक भौगोलिक-सांस्कृतिक शब्द था, जो सिंधु नदी के पार रहने वाले लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ। फारसी परंपराओं से लेकर बाद के यूनानी उल्लेखों तक, "हिंदू" का अर्थ इस भूभाग की जनता से था—उनकी विविध भाषाओं, परंपराओं और जीवन-शैलियों से था, न कि किसी एक धर्म-ग्रंथ या मत से। इस दृष्टि से देखा जाए तो "हिंदू" एक व्यापक सभ्यतागत (civilizational) पहचान है, जिसमें समय के साथ अनेक विचारधाराएँ, आस्थाएँ और समुदाय समाहित हुए—यहाँ तक कि वे लोग भी, जो अलग धार्मिक पहचान रखते हैं, पर इस भूमि की संस्कृति, इतिहास और सामाजिक ताने-बाने का हिस्सा हैं।

यहीं से "हिंदू राष्ट्र" की दो संभावित परिभाषाएँ सामने आती हैं। पहली, धार्मिक—जहाँ "हिंदू" को एक विशेष धर्म मानकर राष्ट्र को उसी के आधार पर संगठित किया जाए; और दूसरी, सांस्कृतिक—जहाँ "हिंदू" को एक सभ्यतागत पहचान मानकर उस सांस्कृतिक एकता को राष्ट्र की आत्मा माना जाए। यदि पहला मार्ग अपनाया जाता है, तो यह अनिवार्य रूप से भारत की बहुधार्मिक संरचना से टकराएगा, क्योंकि यहाँ इस्लाम, ईसाई, सिख, बौद्ध, जैन आदि अनेक परंपराएँ सदियों से सह-अस्तित्व में हैं; ऐसी स्थिति में "धार्मिक हिंदू राष्ट्र" समानता और संवैधानिक संतुलन के प्रश्न खड़े कर सकता है, जैसा कि आधुनिक संवैधानिक ढाँचे—विशेषकर भारत के संविधान—के मूल सिद्धांतों से स्पष्ट है, जो सभी नागरिकों को बिना भेदभाव के समान अधिकार देता है। दूसरी ओर, यदि "हिंदू राष्ट्र" को सांस्कृतिक अर्थ में समझा जाए, तो यह उस व्यापक विचार को दर्शा सकता है कि इस भूमि पर रहने वाला हर व्यक्ति—चाहे वह मुसलमान हो, ईसाई हो या किसी अन्य मत का अनुयायी—एक साझा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा है; इस दृष्टिकोण में "हिंदू" कोई धार्मिक लेबल नहीं, बल्कि एक सभ्यता का नाम बन जाता है, जिसमें विविधता के भीतर एकता की भावना निहित है।

लेकिन यहाँ भी एक महत्वपूर्ण सावधानी आवश्यक है: सांस्कृतिक परिभाषा तभी सार्थक हो सकती है जब वह समावेशी (inclusive) हो, न कि किसी एक पहचान को दूसरों पर थोपने का माध्यम। यदि "हिंदू" शब्द को इस तरह परिभाषित किया जाए कि सिंधु के पार रहने वाला हर व्यक्ति—चाहे वह किसी भी धर्म का हो—इस सांस्कृतिक धारा का हिस्सा है, तो यह विचार एक एकीकृत राष्ट्रीय पहचान को मजबूत कर सकता है; परंतु यदि यही विचार दूसरों की धार्मिक या व्यक्तिगत पहचान को कमतर करने लगे, तो वही अवधारणा विभाजन का कारण भी बन सकती है। इतिहास हमें सिखाता है कि भारत की शक्ति उसकी विविधता में निहित रही है—यहाँ एक साथ अनेक विचारधाराएँ, दर्शन और आस्थाएँ विकसित हुईं और सह-अस्तित्व में रहीं; इसी कारण भारत को एक "सभ्यता" (civilization) कहा जाता है, केवल एक "राष्ट्र" नहीं।

अतः अंतिम निष्कर्ष यही उभरता है कि “हिंदू राष्ट्र” का प्रश्न किसी एक सरल उत्तर से हल नहीं होता; यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम “हिंदू” को कैसे परिभाषित करते हैं। यदि इसे धर्म के संकीर्ण दायरे में बाँधा जाए, तो यह आधुनिक लोकतांत्रिक और बहुलतावादी भारत के लिए चुनौती बन सकता है; लेकिन यदि इसे एक व्यापक सांस्कृतिक पहचान के रूप में देखा जाए—जिसमें सिंधु के पार रहने वाला हर व्यक्ति, उसकी आस्था चाहे जो भी हो, इस भूमि की साझा विरासत का सहभागी है—तो यह एक समावेशी और शक्तिशाली राष्ट्रीय विचार बन सकता है। अंततः यह निर्णय समाज और विचारधारा के स्तर पर लेना होगा कि हम “हिंदू” को विभाजन का आधार बनाते हैं या एकता का सेतु; क्योंकि किसी भी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति उसकी सीमाओं में नहीं, बल्कि उसके लोगों के बीच स्थापित उस विश्वास में होती है, जो उन्हें एक साझा पहचान में जोड़ता है।